भारत में स्थानीय राजनीति का आधार

ज़िले सिंह चौधरी

राजनीति विज्ञान, सत्यवती कालेज सांध्य, दिल्ली विश्वविद्यालये

उदार लोकतांत्रिक शासन प्रणाली वाले देशों में शासन के अस्तित्व का आधार सार्वजानिक हित की अभिवृद्धि के लिए माना जाता है। सार्वजनिक हित की अभिवृद्धि के लिए राज्य कतिपय संस्थाओं का निर्माण करता है। इन संस्थाओं में काम करने वाले लोगों का उद्देश्य सर्वजन हिताय सवजन सुखाय च होता है। वे कर्तव्य भावना से अभिप्रेरित होकर जनता की सेवा को अपना अभीष्ट बना लेते हैं। राजकीय सेवा में कार्यरत ऐसे ही लोक सेवकों से उदार-लोकतंत्र शासन के मूल्य सुदृढ़ होते हैं। किंतु पिछली शताब्दी में राज्य और लोक प्रशासन का सभी देशों में जो विशाल ढांचा खड़ा किया गया, उसमें प्रशासन तथा नौकरशाही तो थी लेकिन गवर्नेस कहीं भी दिखाई नहीं देता।हाल के वर्षों तक गवर्नेस कार्य सरकार का विशेषाधिकार माना जाता था, क्योंकि उसके पास संप्रभु शक्ति थी। बाद में व्यापारिक निगमों की दुनिया में भी कॉरपोरेट गवर्नेस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

हमारे संविधान में वर्णित आर्थिक, सामाजिक एवं राजनितिक स्वतंत्रता एवं न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शासन एवं सु-शासन का अत्यधिक एवं विशिष्ट उत्तरदायित्व है। भारत में प्रशासनिक सुधार के इतने सारे प्रयासों के बावजूद भी प्रशासन के बुनियादी ढांचे और कार्य करने की प्रक्रियाओं में मूलभूत अंतर नहीं आ पाया है। इसके लिए पुरातन एवं अनावश्यक घिसी-पिटी प्रक्रियाओं को बदलना होगा, नौकरशाही की मनोवृत्तियों को बदलकर उसे उद्देश्यपरक बनाना होगा तथा साथ ही समग्र एवं समावेशी प्रयत्न करने होंगे।

राजनीतिक व्यवस्था एक सामाजिक संस्था है जो किसी देश के शासन से संव्यवहार करती है और लोगों से इसका संबंध प्रकट करती है। राजनितिक कुछ मूलभूत सिद्धांतों का समुच्चय है जिसके इर्द-गिर्द राजनीति और राजनीतिक संस्थान विकसित होते हैं या देश को शासित करने हेतु संगठित होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में ऐसे तरीके भी शामिल होते हैं जिसके अंतर्गत शासक चुने या निर्वाचित होते हैं, सरकारों का निर्माण होता है तथा राजनीतिक निर्णय लिए जाते हैं। समाज में राजनीतिक पारस्परिक

E-ISSN: 2454-342x

विमर्श तथा निर्णय-निर्माण की संरचना एवं प्रक्रिया सभी देशों की राजनीतिक व्यवस्था में समाहित होते हैं। व्यक्ति की बहुविध जरूरतों की पूर्ति हेतु राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण हुआ है।

संविधानवाद की अवधारणा एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जो एक संविधान के अंतर्गत शासित होती है और जो आवश्यक रूप से सीमित सरकार और कानून के शासन को प्रतिबिम्बित करती है तथा एक मध्यस्थ, कुलीतंत्रीय, निरंकुश तथा अधिनायकवादी व्यवस्था के विपरीत होती है। किसी देश का संविधान राजनीतिक व्यवस्था के आधारभूत ढांचे की स्थापना करता है जिसके द्वारा लोग शासित होते हैं। यह विभिन्न अंगों-विधानमण्डल, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की स्थापना के साथ-साथ उनकी शक्तियों, जिम्मेदारियों एवं उनके एक-दूसरे के साथ और लोगों के साथ संबंधों को विनियमित करती है। इसलिए संवैधानिक सरकार लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के लिए अपरिहार्य है।

सरकार के प्रकार का वर्गीकरण एक देश की शासन व्यवस्था की शक्ति संरचना की सामान्य तस्वीर पेश करता है। विश्व में विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्था हैं जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। विभिन्न प्रकार की सरकारें विभिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था को अंगीकृत किए हुए हैं। विभिन्न प्रकार की सरकारों का अंतर्गत- एकात्मक, संघात्मक, लोकतांत्रिक, कुलीनतंत्रीय एवं अधिनायकवादी इत्यादि आती हैं। जहां एक ओर एकात्मक सरकार में सभी शक्तियां एक केंद्रीय प्राधिकारी में निहित होती हैं तथा देश की सभी स्थानीय अधीनस्थ इसके एजेंट के रूप में काम करते हैं। यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस एवं न्यूजीलैण्ड एकात्मक शासन व्यवस्था के उदाहरण हैं। वहीं दूसरी ओर संघात्मक व्यवस्था में कठोर एवं लिखित शासन होता है। इसमें संविधान द्वारा विधायी एवं कार्यपालिका शक्तियों का स्पष्ट विभाजन विभिन्न अंगों को किया जाता है।

एक अधिनायकवादी या निरंकुश सरकार में लोगों को राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल किए बिना तथा उनकी सहमति लिए बगैर फैसले लिए जाते हैं। अधिनायकवादी राजव्यवस्था का आधार, असहमति के प्रति असहिष्णुता एवं शासक हमेशा सही होने की अवधारणा है। एक संपूर्ण राजतांत्रिक व्यवस्था सामान्यतः वंशानुगत होती है। वर्तमान समय में कई देशों- यूनाइटेड किंगडम, स्वीडन, नार्वे, बेल्जियम, जापान, थाइलैण्ड, डेनमार्क, नीदरलैण्ड, स्पेन एवं मोनाको आदि में वंशानुगत शासक है, जो केवल संवैधानिक राष्ट्राध्यक्ष हैं जबकि वास्तविक शक्तियां जन-प्रतिनिधियों को हस्तांतरित की गयी है। हालाँकि कुछ राज्य हैं जहाँ सम्पूर्ण राजतांत्रिक व्यवस्था है और यह अधिनायकवादी शासन व्यवस्था की तरह ही होती है। इसके अतिरिक्त संसदीय शासन व्यवस्था, अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था, लोकतांत्रिक वुय्वस्था, अध्यक्षात्मक संसदीय व्यवस्था इत्यादि भी होती हैं।

वस्तुतः विभिन्न अवधारणाओं, राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं विभिन्न प्रकार की सरकारों का विश्लेषण करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि प्रत्येक देश अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक

मूल्य,जनसंख्या प्रकृति, सामाजिक-आर्थिक संरचना एवं उपलब्ध प्रशासनिक प्रतिभा एवं साधनों के अंतर्गत अपनी शासन व्यवस्था की नींव रखता है। राजनीतिक व्यवस्था की सफलता देश विशेष की आवश्यकताओं की सर्वोत्तम पूर्ति पर निर्भर करती है। क्षेत्रीयकरण अपनी जटिलताओं और चुनौतियों के साथ आता है लेकिन यह एक सच्चाई है और भारत को इसका सामना करना है। देश के दो सबसे बड़े दल - कांग्रेस और भाजपा - में से कोई भी पूरे भारत में आधार रखने वाला राष्ट्रीय दल नहीं है और संभावना है कि अप्रैल-मई 2014 के चुनाव के बाद उनके हाथ में कुल 543 लोकसभा सीटों के आधे से बहुत कम सीटें आयेंगी।

इस संदर्भ में, क्षेत्रीय दल और उनके नेताओं के बारे में तीन प्रश्न पूछे जा सकते हैं। पहला, क्या क्षेत्रीय दल अपने चुनाव क्षेत्रों की अपेक्षाओं को पूरा कर सकते हैं? सर्वाधिक लोकप्रिय क्षेत्रीय नेताओं को यह लगने लगा है कि उनकी राजनीतिक संभावनाएं सुशासन, विकास और सेवा प्रदान करने पर निर्भर हैं। इस लोकप्रियता को बनाए रखने के लिए उन्हें अपने राज्यों में अग्रगामी और सक्षम शासन प्रदान करना होगा । दूसरी सवाल यह कि क्या क्षेत्रीय दल जरुरत के वक्त राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में सोच सकते हैं; मिसाल के लिए क्या वे विदेश-नीति और ढांचागत सुधारों के मामले में राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य अपना सकते हैं? तीसरा सवाल, क्या क्षेत्रीय दलकन्सर्ताशियॉन में समर्थ हैं? यह राजनीतिक शब्द स्पेनिश बोलने वाले देशों में प्रचलित है। मुहावरे को तौर पर अनुवाद करें तो इसका अर्थ होगा विभिन्न राजनीतिक वर्गों के बीच समझौते तक पहुंचने का कौशल। भारत को कारगर कन्सर्ताशियॉन की ज़रूरत है ताकि विभिन्न राज्यों से आने वाली अलग-अलग ताकतों के सहकार से एक राष्ट्रीय सरकार बनायी जा सके।

भारत के लोकतंत्र की कथा को तीन चरणों में बांटकर देखा जा सकता है: 1947 और 1989 के बीच, एक दल का लगभग लगातार शासन था और आधिपत्य कांग्रेस का था। 1990 के बाद से भारत की राजनीति विखंडित और कई धड़ों में बंटी। इस दौर में हमने जाति, उप-जाति, भाषाई और अन्य सामुदायिक पहचानों के आधार पर क्षेत्रीय दलों का उदय देखा। यह चरण अभी भी जारी है लेकिन इस मुकाम पर अगले चरण का आरंभ भी देखा जा सकता है। अगले 10 से 20 वर्षों में सबसे सफल राजनेता और दल वे होंगे जो नए उभरते समूह मसलन महिला-मतदाता, युवा मतदाता (लगभग 18 से 35 वर्ष की आयु के बीच) और 'मध्यम वर्गीय' हैसियत और जीवन शैली के आकांक्षी मतदाताओं की बढ़ती तादाद को अपनी तरफ खींच सकें। बहरहाल, यह तीसरा चरण भारत की क्षेत्रीकृत राजनीति के परिप्रेक्ष्य में राज्यों के बीच ढ़ेर सारी विशिष्टताओं और विविधताओं के साथ प्रकट होगा।

क्षेत्रवाद एक विचारधारा है जिसका संबंध ऐसे क्षेत्र से होता है जो धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिये जाग्रत होती है या ऐसे क्षेत्र की पृथकता को बनाए

रखने के लिये प्रयासरत रहती है। इसमें राजनीतिक, प्रशासनिक, सांस्कृतिक और भाषायी आधार पर क्षेत्रों का विभाजन इत्यादि से संबंधित मुद्दों को शामिल किया जा सकता है।

जब क्षेत्रवाद की विचारधारा को किसी क्षेत्र विशेष के विकास से जोड़कर देखा जाता है तो यह अवधारणा नकारात्मक बन जाती है।भारतीय परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रवाद कोई नवीन विचारधारा नहीं है। प्राचीन समय से लेकर वर्तमान परिदृश्य तक समय-समय पर ऐसे अनेक कारण रहे हैं, जिन्हें क्षेत्रवाद के उदय के लिये महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है ।

भाषायी आधार पर लोगों को एकीकृत करना या फिर किसी क्षेत्र का गठन करना क्षेत्रवाद को बढ़ावा देने वाले कारणों में से एक है। भाषायी विवाद स्वतंत्रता से पूर्व भी प्रमुख राजनीतिक मुद्दा बना रहा है। वर्ष 1920 में कॉन्ग्रेस पार्टी द्वारा भाषायी आधार पर राज्यों के गठन की मांग की गई।

वर्ष 1927 में नेहरू रिपोर्ट में इस मांग को फिर से दोहराया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सबसे विवादित विषय भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन था अत: इस विवाद को समाप्त करने के लिये वर्ष 1948 में धर आयोग का गठन किया गया तथा इसके बाद जे.वी.पी. समिति ने भी भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की सिफारिश की।

इसी क्रम में 1अक्तूबर,1953 को भाषायी आधार पर पहले राज्य के रूप में आंध्रप्रदेश का गठन किया गया। भाषायी आधार पर राज्यों की मांग को पूरा करने के लिये वर्ष 1956 में 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की स्थापना की गई। इसके बाद अन्य क्षेत्रों में भी भाषायी आधार पर अलग राज्यों के गठन की मांग उठने लगी तथा आंदोलन प्रारंभ हो गए। इसके चलते वर्ष 1960 में महाराष्ट्र को दो भागों में बाँट दिया गया, वर्ष 1966 में पंजाब का विभाजन भी दो हिस्सों में कर दिया गया। इस प्रकार भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन ने क्षेत्रवाद को उत्पन्न करने तथा इसे विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

धर्म को क्षेत्रवाद के प्रमुख कारणों में से एक माना जाता है। विभिन्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा धर्म का राजनीतिकरण कर लोगों से क्षेत्रीय विकास के वायदे किये जाते हैं जो कि देश की क्षेत्रीय अखंडता एवं संप्रभुता के लिये हानिकारक है। धर्म के आधार पर क्षेत्रवाद को बढ़ावा देना लोगों के उन धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं के साथ खिलवाड़ करना है जो संविधान द्वारा उन्हें मूल अधिकारों के रूप में प्रदान किये गए हैं। असमान आर्थिक विकास क्षेत्रीय असमानताओं को बढ़ावा देने में सहायक होता है जो क्षेत्रवाद को भी प्रोत्साहित करता है। देश में कई राज्यों के अंदर भी आर्थिक असंतुलन की स्थिति देखने को मिलती है, अर्थात् एक ही राज्य के दो क्षेत्रों में संसाधनों के वितरण में विषमता एक ऐसी स्थिति है जो राज्य की सीमा के अंदर ही असंतोष को जन्म देती है और इससे क्षेत्रवाद की समस्या उत्पन्न होती है।

यह आर्थिक असंतुलन एक राज्य के भीतर ही नहीं बल्कि दो या उससे अधिक राज्यों के बीच भी है, जैसे- जहाँ गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक में विकास का स्तर ओडिशा, बिहार से कहीं अधिक है, तो वहीं पूर्वोत्तर राज्यों के मामले में यह अंतर और अधिक दिखाई देता है। क्षेत्रीय विकास में असंतुलन और प्राकृतिक संसाधनों के असमान वितरण के कारण विभिन्न राज्यों के बीच मतभेद उत्पन्न होते रहते हैं जिसके कारण क्षेत्रवाद को बढावा मिलता है। भारत में क्षेत्रवाद को बढ़ावा देने में राजनीति को भी एक महत्वपूर्ण कारण के रूप में देखा जाता है। यदि राजनीतिक दृष्टि से देखा जाए, तो भारत में क्षेत्रवाद की समस्या को बल राजनीतिज्ञों द्वारा ही मिलता है। वर्ष 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग व नक्सलवादी क्षेत्रों में विद्रोहों से चिंतित होकर केंद्र सरकार द्वारा प्रभावित क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबंध लगा देने के निर्णय को राज्य सरकारों ने केंद्र सरकार के हस्तक्षेप के रूप में माना।

जनता पार्टी के शासनकाल में गौहत्या प्रतिबंध के विषय पर केंद्र तथा तमिलनाडु, केरल व पश्चिम बंगाल की सरकारों के बीच उत्पन्न विवाद को उग्र क्षेत्रवाद का ही उदाहरण माना जा सकता है। क्षेत्रीय संस्कृति एवं नृजातीय पहचान के आधार पर: विभिन्न जनजातियों द्वारा अपनी नृजातीय पहचान को सुरक्षित बनाए रखने का प्रयास करना भी क्षेत्रवाद को बढ़ावा देता है, जैसे- बोडोलैंड एवं झारखंड में जनजातीय आंदोलन। वहीं अपनी पृथक धार्मिक पहचान को बनाने के लिये पृथक खालिस्तान की मांग जैसा देशव्यापी मुद्दा भी क्षेत्रवाद की भावना को बढ़ावा देता है। क्षेत्रवाद से उत्पन्न समस्याएँ /चुनौतियाँ बार-बार नए राज्यों के गठन से देश की एकरूपता एवं अखंडता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। अब तक गठित नए राज्यों में एक भी ऐसा नया राज्य सामने नहीं आया है, जिसके गठन के बाद विकास दर में अभूतपूर्व वृद्धि दर्ज की गई हो।

क्षेत्रवाद के कारण केंद्र-राज्य संबंधों पर भी नकारात्मक प्रभाव देखने को मिलता है।क्षेत्रवाद से गठबंधन की राजनीति को प्रोत्साहन मिलता है जिससे क्षेत्रों के विकास के लिये नीति-निर्माण या फिर इन नीतियों के क्रियान्वयन में दुविधा उत्पन्न होती है। क्षेत्रवाद के परिणामस्वरूप अनेक क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ है जिसके चलते प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह अर्थात् नेता,उद्योगपति तथा राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्रीय विकास को ही प्राथमिकता देते नज़र आते हैं। क्षेत्रीय स्तर पर विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा क्षेत्रीय विकास के वायदे कर लोगों के धार्मिक विश्वास का प्रयोग वोट बैंक के तौर पर किया जाता है जिसके चलते देश में सांमप्रदायिकता एवं हिंसा का माहौल पैदा होता है। क्षेत्रवाद के कारण देश में अलगाववाद की भावना को बढ़ावा मिलता है, समय- समय पर हमें इसके कुछ उदाहरण भी देखने को मिले हैं जैसे-असम में अल्फा गुट का गठन, मिज़ोरम में मिज़ो नेशनल फ्रंट की गतिविधियाँ इत्यादि क्षेत्रवाद एवं अलगाववाद की भावना से ही प्ररित हैं।

शिक्षा के माध्यम से एक राष्ट्रव्यापी दृष्टिकोण का विकास कर लोगों एवं आने वाली पीढ़ियों में क्षेत्रवाद के दुष्परिणामों के प्रति जागरूकता का विकास किया जा सकता है। राज्यों को मिलकर एक-दूसरे के विकास में भागीदार के रूप में साथ आना होगा उदाहरण के तौर पर जिस प्रकार पंजाब, हरियाणा के थर्मल पाॅवर स्टेशनों को बिजली निर्माण के लिये ज़रूरी कोयले की आपूर्ति झारखंड, ओडिशा से होती है।राज्यों की समस्या एवं ज़रूरतों को समझने के लिये नीति आयोग को और बहेतर तरीके से कार्य करने की आवश्यकता है। अनुच्छेद-263 में वर्णित अंतर्राज्यीय परिषद जिनका गठन राज्यों के मध्य उत्पन्न विवादों के समाधान हेतु एक परामर्शकारी संस्था के तौर पर किया गया है, द्वारा दिये गए सुझावों पर राज्य सरकारों को ध्यान देने की आवश्यकता है।सभी क्षेत्रों का समान विकास किया जाना चाहिये ताकि कोई भी राज्य स्वयं को विकास प्रक्रिया में अलग-थलग महसूस न करे।

संविधान में वर्णित क्षेत्रीय परिषदें जो कि सांविधिक निकाय हैं। इनका गठन देश के प्रत्येक हिस्से में राजनीतिक समन्वय स्थापित करने, विभाजन के बाद के प्रभावों को दूर करने एवं क्षेत्रवाद, भाषावाद को रोकने के उद्देश्य से किया गया था ताकि देश के समग्र विकास के साथ-साथ इसकी एकता एवं अखंडता को बनाए रखने हेतु ये परिषदे अपने सुझाव समय-समय पर प्रस्तुत कर सकें। इन परिषदों द्वारा दिये गए सुझावों पर त्वरित अमल करने की आवश्यकता है। केंद्र सरकार द्वारा प्राकृतिक एवं खनिज संसाधनों का बँटवारा राज्यों की ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिये। केंद्र सरकार की वे सभी योजनाएँ जो आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों पर केंद्रित हैं, का क्रियान्वयन एवं उनकी निगरानी सही ढंग से होनी चाहिये।

संदर्भ :

राज से स्वराज्य - रामचन्द्र प्रधान, केंद्रीय माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली 2016

Almond, Gabriel A., and G. Bingham Powell Jr. 1966.

Comparative Politics: System, Process, and Policy. Boston: Little, Brown.

Barrow, Clyde W. 1993. Critical Theories of the State: Marxist, Neo-Marxist, Post-Marxist. Madison: University of Wisconsin Press.

Beard, Charles A. 1913. An Economic Interpretation of the Constitution of the United States. Glencoe, IL: Free Press.

Bansal, R., & Gnanadev, N. (2015). Institutionalization of Social Audit Practices in MGNREGAs in Himachal Pradesh. *VEETHIKA-An International Interdisciplinary Research Journal*, *1*(3), 87–95. https://doi.org/10.48001/veethika.2015.01.03.010

Barns, M. The Indian Press, London, 1940

Barth, A. The Government and the Press. Minneapolis 1953

Khuntia, J., & Bajaj, R. (2015). आज के युग में कौटिल्य अर्थशास्त्र की प्रासंगिकता. *VEETHIKA-An International Interdisciplinary Research Journal*, *1*(1), 102–106. https://doi.org/10.48001/veethika.2015.01.01.015